

हमारी आदत में बराबर की स्त्री

विकास नारायण राय

यह सामान्य अनुभव की बात है कि पूर्वाग्रहों और धारणाओं को बदलना बेहद जटिल होता है जबकि आदत और सभ्यता में बदलाव लाना अपेक्षाकृत सरल। इसलिए केन्द्रीय मानव संसाधन मंत्रालय की, लगभग तीन दशक बाद एक नयी शिक्षा नीति बनाने की ताजा कवायद के तहत लिंग संवेदीकरण को पाठ्यक्रम का अनिवार्य हिस्सा बनाने का निश्चय एक सटीक कदम है। क्या ऐसी ही पहल दो अन्य केन्द्रीय मंत्रालयों, गृह एवं कानून, की ओर से तुरंत नहीं होनी चाहिए? लैंगिक गैरबराबरी के पारिवारिक/सामाजिक परिवेशों से ही आये, अपराध-न्याय व्यवस्था के तमाम कर्मियों के संवेदीकरण को लेकर। निश्चय ही पुलिसवालों और सुरक्षाकर्मियों, अभियोजकों और जजों, चिकित्साकर्मियों और केयरटेकरों का आदतन लिंग संवेदी हो जाना उनके संपर्क में आनेवाली स्त्रियों के लिए बहुत बड़ी राहत का सबब होगा।

लिंग-संवेदी राज्य मशीनरी के अभाव में स्त्री के प्रति भेदभाव बदलने के तमाम कानूनी और प्रचारात्मक प्रयास बहुत कम नतीजे हासिल कर पा रहे हैं। वैसे यह इतना सहज भी नहीं। लैंगिक नजरिये में बदलाव की लम्बी और उलझी हुयी प्रक्रिया पुरुष और स्त्री के परस्पर सत्ता सम्बन्धों की बुनियाद को चुनौती देनेवाली कवायद जो ठहरी! ऐसे में, अभेद्य लैंगिक संरचना के समाज में, सामयिक होगा लोगों की विषमकारी आदतों पर भी समुचित ध्यान देना। पुरुषों की ही नहीं स्त्रियों की भी, क्योंकि दोनों ही समाज से एक जैसे सांस्कृतिक मूल्यों को ग्रहण करते आ रहे हैं। विशेषकर उनकी आदतें तुरंत ध्यान देने योग्य हैं जिनका स्त्री की समानता में बौद्धिक या पेशेगत विश्वास तो रहता है, पर वे जाने-अनजाने अपने अचेतन में गहरे पैठी विषम धारणाओं के शिकार हो जाते हैं।

मसलन, परिवार में स्त्री के योगदान

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने इन दिनों ऐसी ही दो आम आदतों को चिन्हित किया है और उन्हें दुरुस्त करने की तरफ ध्यान दिलाया है। यह और बात है कि दोनों मामलों में बदलाव का कार्यान्वयन वैसा कतई नहीं होने जा रहा जैसा उन्होंने बताया है। पर इनमें से एक निदान की चर्चा सर्वाधिक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय दिवस पर करने का श्रेय उन्हें अवश्य दिया जाना चाहिए 15 अगस्त लाल किला संबोधन में उन्होंने लड़कियों पर रोक-टोक की नियमावली लादनेवाले अभिभावकों को चेताया कि उन्हें अपने बिगड़े लड़कों से भी नियमित पूछ-ताछ करने की आदत डालनी पड़ेगी। हालांकि आज की जमीनी सच्चाई यह है कि स्त्री सुरक्षा के सन्दर्भ में न लड़कियों पर अभिभावकों की पारंपरिक रोक-टोक का असर हो पा रहा है और न लड़कों की पूछ-ताछ से फायदा हो पाएगा।

को सम्मान मिलने में बेशक खासा वक्त लगेगा पर पुरुष की स्त्री के साथ मार-पीट और अन्य अपमानजनक आदतें फिर भी छुड़ाई जा सकती हैं। इसी तरह भाइयों से बहनों को पैतृक सम्पत्ति में हिस्सा दिला पाना फिलहाल टेढ़ी खीर है पर बहनों के कपड़ों या मेल-मिलाप जैसे निजी मामलों में रोक-टोक का उनका रूटीन लाइलाज नहीं है। खापों के गोत्र-विवाह निषेधों के बावजूद इज्जत के नाम पर विद्रोही जोड़ों की हत्याएं करने की उनकी आदत को थामा जा सकता है। कार्यस्थलों पर महिलाओं को सामान्यतः निर्णय और नेतृत्व के केंद्र में लाना अभी दूर की कौड़ी लगता हो पर हर रोजगारदाता व्यक्ति/संस्था की कार्य-पद्धति में महिलाओं को शालीनता/सुरक्षा सुनिश्चित करनेवाली एफएमटिव आदतें शामिल की जा सकती हैं। मीडिया की भाषाई अदायगी की स्टीरियोटाइप आदतें बदलना आसान है, बजाय उसकी व्यावसायिकता को उत्तेजक स्त्री छवि से अलग कर पाने के।

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने इन दिनों ऐसी ही दो आम आदतों को चिन्हित किया है और उन्हें दुरुस्त करने की तरफ ध्यान

दिलाया है। यह और बात है कि दोनों मामलों में बदलाव का कार्यान्वयन वैसा कतई नहीं होने जा रहा जैसा उन्होंने बताया है। पर इनमें से एक निदान की चर्चा सर्वाधिक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय दिवस पर करने का श्रेय उन्हें अवश्य दिया जाना चाहिए। 15 अगस्त लाल किला संबोधन में उन्होंने लड़कियों पर रोक-टोक की नियमावली लादनेवाले अभिभावकों को चेताया कि उन्हें अपने बिगड़े लड़कों से भी नियमित पूछ-ताछ करने की आदत डालनी पड़ेगी। हालांकि आज की जमीनी सच्चाई यह है कि स्त्री सुरक्षा के सन्दर्भ में न लड़कियों पर अभिभावकों की पारंपरिक रोक-टोक का असर हो पा रहा है और न लड़कों की पूछ-ताछ से फायदा हो पाएगा।

दूसरा अवसर 28 अगस्त प्रधानमंत्री जन-धन योजना के शुरू करने का रहा जिसके अंतर्गत सभी के, हर स्त्री के भी, दो बैंक खाते खोलने का प्रावधान है। मोदी का तर्क था कि इससे स्त्री का अपनी कमाई/बचत पर स्व-नियंत्रण रहेगा, जिसे अन्यथा घर में पति या पुरुष अभिभावक हड़प जाता है। हालांकि इस उपाय में भी निदान कम और प्रतीकात्मकता ही ज्यादा है।

कामकाजी स्त्री जिसका मासिक वेतन आज सीधा बैंक में जाता है, का अनुभव असलियत बताएगा। पुरुष की पारिवारिक जकड़ इतनी व्यापक है कि इस स्त्री का बैंक खाता और ए टी एम कार्ड उसकी अपनी पहुँच से दूर ही बने रहते हैं। तो भी प्रधानमंत्री की ईगित दोनों आदतों की दुरुस्तगी असम्भव नहीं है। क्रमशः, पारिवारिक परामर्श प्रणाली को घर-घर में पहुंचाकर और बैंकों में समुचित तकनीकी कट-आफ लगाकर स्त्री के सशक्तीकरण की ये कारगर पहलें व्यवहार के धरातल पर भी उतारी जा सकती हैं।

अन्य सुधारयोग्य लैंगिक आदतों में सबसे प्राथमिकता पर भाषा के 'मर्दाना' तैवरों को लिया जाना चाहिए। विशेषकर मीडिया और लोकप्रिय मीडिया के दायरों में इस्तेमाल होनेवाले लैंगिक मुहावरों और अभिव्यक्तियों के सन्दर्भ में। इसलिए नहीं कि मीडियावाले ही भाषाई लिहाज से सबसे बड़े दोषी हैं, बल्कि इसलिए क्योंकि लैंगिक मूल्यों के संप्रेषण की व्यापक भाषा पर फिल्म, टी वी और साइबर जैसे माध्यमों की भाव-भंगिमाओं का सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। दरअसल, मीडिया की यौनिक उत्पीड़न के मामलों के खुलासों में व्यापक दिलचस्पी के चलते ही स्त्रियों में अपने अनुभवों को सार्वजनिक रूप से साझा करने की हिम्मत बढ़ी है। एक पीड़ित स्त्री के लिए यह जानना बेहद आश्वस्तकर और उत्प्रेरक होता है कि उसके जैसे कितने ही और हैं जो न्याय के लिए आवाज उठा पा रहे हैं। काश यही मीडिया लैंगिक भाषा की अदायगी को लेकर सौ फीसद संवेदी भी हो सके!

वांछित संवेदी स्तर हासिल करने के लिए अभ्यास कार्यशालाएं जांचे-परखे मंच हैं। भाषा की सही अदायगी को लेकर राजनेता, जो सबसे बड़े दोषी नजर आते हैं, भी इनका लाभ क्यों नहीं उठा सकते? आखिर उनका भी बहुसंख्यक तबका स्त्री विषमता और उसके अपमान की सीधी राजनीति से गुरेज करता ही है। लिहाजा, समझना चाहिए कि केन्द्रीय वित्त मंत्री अरुण जेटली जैसे शिष्ट राजनेता की जबान भी अगर पर्यटन के व्यावसायिक प्रिम्स से बलात्कार की मीडिया रिपोर्टिंग को जांचने में लैंगिक शिष्टाचार के दायरे से बाहर फिसल जाती है तो भाषाई अदायगी के अभाव में, न कि उनकी नीयत में किसी बुनियादी खोट के चलते। मुलायम सिंह यादव तो कहीं बुरी तरह फिसले थे जब उन्होंने फांसी की सजा को बलात्कार के दायरे में शामिल करने की तार्किकता पर प्रश्न खड़ा करना चाहा था।

क्योंकि राजनेता अमूमन सार्वजनिक स्पेस में ज्यादा बोलते हैं, कुछ ज्यादा ही फिसलते हैं और पकड़े भी जाते हैं। लेकिन लैंगिक भाषा, जिस भी लहजे में राजनीतिक मंचों से बोली जाती है, एक स्तर पर सामाजिक दशा-दिशा का संकेतक भी होती है। सांसदों तापस पाल (तृणमूल कांग्रेस) और आदित्यनाथ (भाजपा) की महिलाओं को बलात्कार का शिकार बनाने की सार्वजनिक घोषणायें बताती हैं कि विधायिका में महिला आरक्षण की बहस के बावजूद राजनीति की चाल वैसे ही फंसी पड़ी है जैसे समाज की। हिन्दुस्तान टाइम्स के एक वरिष्ठ सम्पादक विनोद शर्मा जो बेहद संयत मीडिया टिप्पड़ियों के लिए जाने जाते हैं, ने हाल में पाकिस्तान से विदेश सचिव स्तर की वार्ता रद्द किये जाने के सन्दर्भ में टी वी बहस में एक से अधिक बार बेबाकी से कहा कि सीमा पर तैनात हमारे सैनिकों ने चूड़ियाँ नहीं पहन रखी हैं। संसद में अलग तैलगाणा राज्य की बहस

जब ज्यादा गर्म हो गयी तो एक पक्ष ने दूसरे को चूड़ियाँ भेंट कीं। कायरता को चूड़ियों से जोड़ने की मर्दों की परम्परा उतनी ही पुरानी रही है जितनी बलात्कार की।

इसके बरक्स, फर्ज कीजिये, किसी दिन देश के पुरुष प्रधानमंत्री और पुरुष सेनाध्यक्ष शान से हाथों में चूड़ियाँ पहनकर सीमा का दौरा करने निकलें तो लैंगिक विषमता की उन छवियों को बेतरह ठेस नहीं लगेगी जो 'कमजोर' स्त्री की कीमत पर मजबूत होती चली आयी हैं? भाई भी बहनों को राखी के बदले राखी बांधें! स्त्री की शारीरिक या मानसिक प्रताड़ना करनेवाले की जमानत के आदेश पर पारिवारिक परामर्शदाता और स्वयं पीड़ित स्त्री के भी सहमति-सूचक हस्ताक्षर अनिवार्य हों! पैतृक सम्पत्ति में स्त्री का हिस्सा या तो उसे ही मिले अन्यथा राज्य के सुपुर्द हो! लैंगिक आदतों में बदलाव के ऐसे-ऐसे तैवर भी होने चाहिए!

स्पष्ट है कि भाषा में बराबरी की दिखावटी अदायगी से असमानता के बुनियादी समीकरण पर ज्यादा खरोंच नहीं लगेगी, क्योंकि लैंगिक दुनिया में मर्दानगी का प्रभुत्व ही स्त्री के प्रति भाषा के अपमानजनक विन्यास को गढ़ता है। लैंगिक बराबरी की पुरअसर भाषा बोलने का चलन न घरों में है और न समाज में। अपनी पसंद से प्रेम-विवाह चुननेवाली लड़कियों के प्रसंग को बलात्कार का नाम दे दिया जाना प्रचलन में था ही, अब पितृसत्ता की साम्प्रदायिक राजनीति करनेवालों के हाथ में लव जिहाद का नया मिसाइल भी आ गया है। इस तरह लड़की की इच्छा पर परिवार और समाज का ही नहीं, राज्य, कानून और राजनीति का शिकंजा भी कसा जाना अधिक सहज हो चला है। यदि 'आहत' पितृसत्ता ऐसी विद्रोहिणी का कत्ल कर दे या उस पर तेजाब फेंक दे या उसे 'ब्रामद' कर जबरन उसकी अन्यत्र शादी कर दे तो भी मीडिया के पास इस शैतानियत के पर्दाफाश के लिए पर्याप्त शब्दावली नहीं है। जघन्यता को इन पराकाष्ठाओं को वे तटस्थ भाव से 'शान के लिए हत्या' या 'टुकराए प्रेमी का कृत्य', कहते चले आ रहे हैं। 'ब्रामद' लड़की से पितृसत्ता थाना-कचहरी में अपने हिसाब से बयान दिलवाती है; इस परिदृश्य की परतें खोले बिना मीडिया की रिपोर्टिंग चाहे तथ्यपरक भी हो पर वस्तुपरक नहीं हो पाती। जबकि 'सती' मामलों को क्रूर हत्याएँ बताकर व उन्हें मर्दों के सम्पत्ति पर एकाधिकार के चलन से जोड़कर मीडिया दिखा चुकी है कि लैंगिक क्षेत्र में सही मुहावरों का प्रयोग कितना प्रभावी सिद्ध हो सकता है। आज राजनीतिक मंचों से यह मुद्दा सिर से गायब है। मीडिया में जीवंत स्त्री विमर्शों का दायरा केवल यौनिक हिंसा तक ही सीमित नहीं रहकर लैंगिक हिंसा के तमाम आयामों की पड़ताल करता है। जबकि सत्ता राजनीति का ढांचा और पद्धति मूलतः जड़-मर्दावादी हैं और वहां सारा जोर यौनिक हिंसा के गिर्द ही केन्द्रित रखा जाता है। ऐसे में राजनीति के लिए आगे भी वांछित मुहावरे गढ़ने में मीडिया अदायगी को संवेदी आदतें निश्चित ही अहम भूमिका निभाएंगी।

फिलहाल लैंगिक अदायगी में शान और इज्जत 'मर्दाना' ही हो सकती हैं। बेशक अपमानजनक लगना चाहिए कि निडर औरत के लिए सबसे बड़ा विशेषण 'मर्दाना' हो। आज-कल इस शीर्षक की एक दृढ़ निश्चयी स्त्री चरित्र पर आधारित फिल्म धूम-धड़ाके से चल रही है। और इसके समांतर, हिंसा का डट कर मुकाबला करनेवाली औरत को 'मर्दाना' कहने का पुराना चलन नए जोश से चल पड़ा है। 1857 के स्वतंत्रता संग्राम में वीरता और उत्सर्ग की मिसाल बनी झांसी की रानी लक्ष्मीबाई के शौर्य के बखान के लिए भी कविए और वह भी एक महिला कवि, सुभद्रा कुमारी चौहान ने अपनी लोकप्रिय कविता में अतिरेकी विशेषण 'मर्दाना' ही चुना था। मर्दानगी के माहौल की नियमित रूप से शिकार बननेवाली स्त्री के लिए 'मर्दाना' कहलाना बेशक उपहासभरा ही होता पर फिलहाल समाज के पास कोई और अदायगी है भी नहीं। जब औरत के लिए समाज में बराबरी नहीं है तो बराबरी की भाषा न होने का रोना हमें कहीं नहीं ले जायेगा। हां, इसके उलट, बराबरी की आदतों के समावेश से बराबरी की भाषा भी बनेगी और गैर-बराबरी का दर्श भी अधिक तलखी से समाधान मांगेगा।

राज्यपालों की नियुक्ति व बरखास्तगी के लिये एक निष्पक्ष व स्वतंत्र प्रक्रिया स्थापित करने की आवश्यकता

प्रो.जुगल किशोर गुप्ता

केन्द्रीय सरकार की भांति प्रत्येक राज्य में भी संसदीय व्यवस्था को अपनाया गया है। संविधान की धारा 153 के अनुसार प्रत्येक राज्य के लिए एक राज्यपाल होगा। परंतु 1956 के सातवें संशोधन के अनुसार यह प्रावधान किया गया कि दो या दो से अधिक राज्यों के लिये भी एक ही राज्यपाल नियुक्त हो सकता है। संविधान की धारा 156 के अनुसार राज्य के राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री और उसके मंत्रीमंडल की सिफारिश पर पांच वर्ष के लिए की जाती है। उसकी अवधि को बढ़ाया भी जा सकता है।

यद्यपि संविधान के अनुसार राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है, परंतु नियुक्ति से पूर्व संबंधित राज्य के मुख्यमंत्री को प्रायः सलाह ली जाती है। यदि केन्द्र व राज्य में अलग-अलग राजनैतिक दलों की सरकारें हो तो राज्य के मुख्यमंत्री की सलाह को कोई महत्व नहीं दिया जाता।

राज्यपाल राज्य का संवैधानिक मुखिया होता है। विधानसभा में बहुमत प्राप्त राजनैतिक दल की सरकार की स्थिति में राज्यपाल द्वारा अपनी स्वेच्छाचारी शक्तियों का प्रयोग करने की संभावना नहीं रहती है, परंतु त्रिशंकु विधानसभा की स्थिति में राज्यपाल का पद महत्वपूर्ण हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसे अपने स्वेच्छाचारी अधिकारों का प्रयोग करने का अवसर मिल जाता है और कभी-कभी केन्द्रीय सरकार व राज्यपाल तथा राज्य की सरकार व राज्यपाल में टकराव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। संविधान के अनुसार राज्यपाल से दो प्रकार के कार्य करने की आशा की जाती है: प्रथम, वह राज्य के संवैधानिक मुखिया के रूप में काम करे; दूसरा, वह केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में केन्द्र तथा राज्य के बीच कड़ी का काम करे। राज्यपाल के यह दो रूप परस्पर विरोधी हैं, विशेष रूप से उस समय जब केन्द्र तथा राज्य में अलग-अलग राजनैतिक दलों की सरकारें हों। यदि राज्यपाल केन्द्रीय सरकार का प्रतिनिधि है, वह संवैधानिक मुखिया नहीं बन सकता; और यदि वह संवैधानिक मुखिया है, वह केन्द्र और राज्य के बीच कड़ी के रूप में नहीं रह सकता। इस प्रकार संविधान में ही यह विरोधाभास है।

पंडित जवाहर लाल नेहरू व लाल बहादुर

शास्त्री के कार्य काल में राज्यपाल के पद पर प्रतिष्ठित व योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति की जाती थी, जैसे, सरोजनी नायडू, श्री प्रकाश, एम. एस. अन्ने, के. एम. मुन्शी, जाकिर हुसैन, वो.वी. गिरी आदि। उस समय केन्द्रीय सरकार (कांग्रेस) या प्रधानमंत्री के वफादार अथवा पसंदीदा व्यक्तियों को कोई तरजीह नहीं दी जाती थी। परंतु आज से लगभग 40 वर्ष पूर्व राज्यों के राजभवन राजनैतिक दलों व प्रधानमंत्री के पसंदीदा व्यक्तियों से भरे जाने लगे। इसकी शुरुआत प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने की जब उसने अपने वफादार व पसंद के व्यक्तियों को राज्यों में राज्यपाल के पदों पर नियुक्त किया। जनता पार्टी की सरकार ने इंदिरा गांधी द्वारा नियुक्त राज्यपालों को हटाकर उनके स्थान पर अपने पसंदीदा और वफादारों की नियुक्ति की।

इसके बाद से यह सिलसिला लगातार चल रहा है, चाहे वह जनता दल की सरकार हो या कांग्रेस की या एन डी ए की। अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में बनी एन डी ए सरकार ने अपने वफादारों की नियुक्ति की तो 2004 में यूपीए सरकार ने उनको हटाकर उनके स्थान पर अपने वफादारों की नियुक्ति की। तत्कालीन गृहमंत्री शिवराज पाटिल ने अपनी सरकार की कार्यवाही को न्यायोचित ठहराते हुए बड़ी तर्कहीन दलील देते हुए कहा कि इन राज्यपालों की विचारधारा सत्ताधारी राजनैतिक दल कांग्रेस की विरोधी थी। एन डी ए के चेयर पर्सन लालकृष्ण आडवाणी ने इसका कट्टर विरोध करते हुए कहा था कि इस प्रकार राज्यपालों का हटाना खतरनाक तथा संवैधानिक सिद्धांतों का उल्लंघन था। भाजपा के नेता बी.पी. सिंहल ने इस कार्यवाही के खिलाफ सर्वोच्च न्यायालय में केन्द्र की यूपीए सरकार के विरुद्ध मुकदमा दायर किया था। इस संबंध में सर्वोच्च न्यायालय की पांच न्यायाधीशों की संवैधानिक पीठ ने 2010 में अपना निर्णय देते हुए कहा कि यह ठीक है कि राज्यपाल का कार्यकाल राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर करता है और संविधान की धारा 156 (1) के अनुसार बिना कोई कारण अथवा नोटिस दिए उन्हें हटाया जा सकता है, परंतु आपको मनमाने, स्वेच्छाचारी और बिना किसी आधार के राज्यपाल को हटाने का अधिकार नहीं है। स्पष्ट है कि संवैधानिक प्रावधानों के मुताबिक मंत्रीमंडल की सलाह पर राष्ट्रपति राज्यपाल

को हटा सकते हैं, लेकिन उस के लिये ठोस कारण होना जरूरी है। यह तर्क बेमानी है कि केन्द्रीय सरकार तथा राज्यपालों की अलग-अलग राजनैतिक विचारधारा है।

मोदी सरकार ने अपनी ही पार्टी के नेता सिंघल द्वारा दायर किए गए मुकदमें में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय तथा भाजपा के वरिष्ठ नेता लाल कृष्ण आडवाणी द्वारा 2004 में यूपीए सरकार द्वारा भाजपा नियुक्त राज्यपालों को हटाने के विरुद्ध किए गए प्रतिरोध का संज्ञान न लेते हुए यूपीए सरकार के कार्यकाल में नियुक्त राज्यपालों को हटाने का निर्णय किया। इसके लिए केन्द्रीय गृह सचिव अनिल गोस्वामी ने उन राज्यपालों को फोन से त्याग पत्र देने को कहा। इस पर अब तक नौ राज्यपालों ने अपने त्याग पत्र दे दिए हैं। भाजपा नेताओं ने अपनी इस कार्यवाही को न्यायोचित ठहराने के लिए तर्क दिया कि यह एक पूर्व स्थापित परम्परा है कि केन्द्र में सरकार बदलने पर राज्यों के राज्यपालों को हटाकर उनके स्थान पर केन्द्र की नई सरकार द्वारा नए राज्यपालों की नियुक्ति की जाती है। गौरतलब है कि यूपीए द्वारा एन डीए सरकार द्वारा नियुक्त राज्यपालों को हटाने समय तत्कालीन केन्द्रीय गृहमंत्री शिवराज पाटिल ने भी इसी प्रकार की दलील दी थी। उस समय भाजपा ने इस कार्यवाही का कड़ा प्रतिरोध किया था, तो मोदी सरकार द्वारा की गई उसी प्रकार की कार्यवाही का कांग्रेस उसी तरह विरोध कर रही है।

इस पूरे प्रकरण से स्पष्ट है कि राज्यपाल का पद विवादास्पद तथा राजनीति का खिलौना बन गया है। राज्यपाल पद का प्रयोग केन्द्र में सत्ताधारी राजनैतिक दल द्वारा अपने राजनैतिक हितों को साधने के लिए किया जाता है। केन्द्रीय सरकार अपने मनमाने व स्वेच्छाचारी ढंग से राज्यपालों की नियुक्ति करती है और हटाती है। राज्यपाल के पद की गरिमा बनाए रखने और उसके द्वारा संवैधानिक दायित्वों को निभाने का वातावरण बनाए रखने के लिए एक निष्पक्ष, स्वतंत्र व स्वस्थ प्रक्रिया स्थापित करने की आवश्यकता है। राज्यपालों की नियुक्ति व उनको हटाने के लिए एक स्वायत्त संवैधानिक समिति का गठन किया जाए जिस प्रकार केन्द्रीय चुनाव आयोग के आयुक्तों, केन्द्रीय सतर्कता आयोग के आयुक्त, लोक पाल आदि की नियुक्ति की जाती है।